शिक्षा और मनोविज्ञान: नाज़ुक कड़ियों को समझने की ज़रूरत

कमला मुकुन्दा के साथ बातचीत

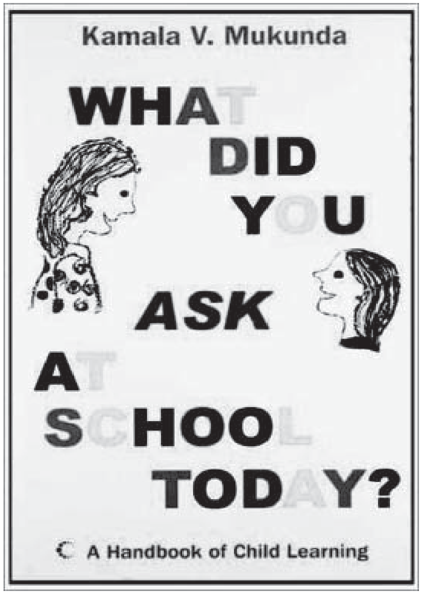
क्या आपने उन मनोवैज्ञानिकों के बारे में पढ़ा है जो एक ज़माने में चूहों और कुत्तों पर अपने प्रयोग किया करते थे? कमला मुकुन्दा *व्हॉट डिड यू आस्क ऐट स्कूल टुडे?* नाम की अपनी एक किताब में ऐसे ही मनोविज्ञान की खबर ले रही हैं। अपनी किताब में वे अध्यापकों से मनोविज्ञान पर बहुत गम्भीरता से ध्यान देने का आह्वान करती हैं, और साथ ही शिक्षक-शिक्षकों से भी अर्ज़ करती हैं कि वे ऐसा मनोविज्ञान पढ़ाएँ जो कक्षा के भीतर के व्यवहार को एक आलोचनात्मक रूप से नया आयाम दे सके। अपने अध्यापन के तकरीबन दो दशकों के अनुभवों के बारे में बात करते हुए वे मानक आकलन के स्थान पर 'असली आकलन' (ऑथेन्टिक असेसमेंट) की ओर जाने की ज़रूरत पर ज़ोर देती हैं।

? **विवेक वेलांकी**: *व्हॉट डिड यू आस्क ऐट स्कूल टुडे?* में आपने लिखा है कि अध्यापकों और शिक्षाविदों के तौर पर हमें मनोविज्ञान पर बहुत गम्भीरता से ध्यान देना चाहिए। ऐसा कहने के पीछे ठोस ज़रूरत क्या है?



कमला मुकुन्दा: मैंने तकरीबन 8 साल तक स्कूलों में पढ़ाया है। मैं मिडिल स्कूल और सीनियर स्कूल को पढ़ाती हूँ। उससे पहले मैं शैक्षिक मनोविज्ञान में पीएच.डी. कर रही थी। उस वक्त मेरे ज़हन में रिसर्च और इसी तरह के क्षेत्रों में करियर बनाने के सपने थे। इसके

बाद कुछ इत्तेफाक ऐसे हुए कि मैं बैंगलोर में चल रहे इस बेमिसाल स्कूल में पढ़ाने आ गई और फिर मैं बस यहीं की होकर रह गई। मुझे पीछे मुड़कर देखने की ज़रूरत ही नहीं पड़ी और मैं शोध वाली ज़िन्दगी की तरफ लौट ही नहीं सकी। मुझे अध्यापिका होने में बड़ी गहरी तसल्ली मिल रही थी।



खैर, धीरे-धीरे सहकर्मियों के साथ, अन्य अध्यापिकाओं/अध्यापकों के साथ, अभिभावकों के साथ चर्चाओं के दौरान और खुद अपने काम के दौरान मैंने पाया कि जो सवाल और मसले मुझे एक शोध विद्यार्थी के रूप में उत्तेजित करते थे, वही यहाँ भी बार-बार मेरे सामने आ रहे हैं। बल्कि अब ये सवाल और भी ज़्यादा फौरी व ठोस शक्ल में मेरे सामने थे! मिसाल के तौर पर, कोई अध्यापिका आकर बड़े यकीन से दावा करती कि फलाँ उम्र के बच्चे फलाँ-फलाँ चीज़ों को करने के लायक नहीं होते, या कोई यह दावा करता कि मुझे पता ही नहीं चलता कि कोई विद्यार्थी इतना होशियार होते हुए भी गणित में कैसे पिछड़ सकता है! यानी लगन, विकास और बुद्धि से जुड़े सवाल और ऐसे ही बहुत सारे अन्य मसले हर रोज़ 5-10 मिनट की उस चाय की चर्चा में उठ जाते थे। मैं सोचती, "क्या मैं अपनी सारी पढ़ाई-लिखाई के दम पर इन्हें कुछ बता सकती हूँ?" मगर सवाल यह था कि दशकों के धरातल पर फैले शोध और आपस में गुँथे इन सारे विचारों को सरल और संक्षिप्त ढंग से पेश कैसे किया जाए? पाँच मिनट के टी-ब्रेक में आप कैसे इन सब बातों को समेट सकते हैं?

तो दरअसल, एक तरह की उत्तेजना भरी हताशा के चलते ही मैंने तय किया कि मैं फिर से लिखना शुरू करूँगी, और फिर मैं सबको अपनी सोच बताऊँगी। अगर लोगों के पास वक्त होगा तो उन्हें पढ़ने के लिए भी देती रहूँगी। और मैं इसी तरह से अपना काम करने लगी। मेरे पास हर रोज़ दैनिक अध्यापकीय व्यवहार के सवाल आ रहे थे। अब मैं अपने ज़हन में

शोधों और साहित्य के विशाल भण्डार से रोज़ रूबरू होने लगी थी। जितना हो पाता, मैं उतना पढ़ती, उसको पचाती और फिर उसको लिखती। बेशक, मैं जो कुछ लिखती, उसमें मेरा अपना दृष्टिकोण भी जुड़ जाता था मगर कोशिश यही करती कि सब-कुछ बेबाक और सपाट ढंग से, और जितना हो सके, सीधे अन्दाज़ में लिखूँ। मैंने यह भी कोशिश की कि ज़्यादा-से-ज़्यादा सरल भाषा में लिखूँ, मगर कई बार चीज़ों को एक हद से ज़्यादा सरल भी नहीं बनाया जा सकता था। अगर आप उससे ज़्यादा कोशिश करते हैं तो चीज़ें अति सरलीकृत और सतही लगने लगती हैं, उनकी बारीकियाँ मिट जाती हैं जबकि जिन सवालों से मैं जूझ रही थी, उनमें से कुछ वाकई पेचीदा थे। फिर मुझे यह भी लगा कि अध्यापकों को इस तरह बेवकूफ बनाने का कोई मतलब नहीं है, उन्हें हर वो चीज़ बताने की ज़रूरत है जो उन्हें जाननी चाहिए; सिर्फ सीधी सरल बातें कहने की कोई ज़रूरत नहीं है।

इस तरह, आखिरकार धीरे-धीरे यह किताब एक शक्ल लेने लगी। और अब मुझे इतनी खुशी है कि इतने साल बाद भी लोग इसको मज़े से पढ़ रहे हैं। कहीं-कहीं वह मुश्किल भी हो जाती है; कई बार लोग कहते हैं कि मुझे नोटबुक साथ लेकर किताब पढ़नी पड़ी। मगर यह तो अच्छी बात है! या कोई आकर कहती कि मैंने किसी के साथ बैठकर पूरी किताब पढ़ डाली। कितने कमाल की बात है! यह कोई साहित्यिक रचना नहीं है; इसको आपको एक बार नहीं बार-बार पढ़ना पड़ सकता है। कुछ लोगों ने इसके सन्दर्भ और स्रोत भी पढ़े और इसके आधार पर आगे भी अध्ययन किए हैं, और कम-से-कम दो लोगों को तो मैं जानती हूँ जो इसको पढ़ने के बाद लिखने के लिए प्रेरित हुए हैं। मुझे इस तरह की बातें सुनकर बड़ी तसल्ली मिलती है।

? **विवेक वेलांकी:** आपके लिए मनोविज्ञान और शिक्षा का आपसी जुड़ाव इसलिए इतना मुखर रहा है क्योंकि आपने मनोविज्ञान बाकायदा पढ़ा है। साथ ही, आपने यह भी लिखा है कि दोनों के बीच यह सम्बन्ध बहुत प्रत्यक्ष नहीं है, हालाँकि बहुत महत्वपूर्ण ज़रूर है। यह सम्बन्ध क्या है? अध्यापकों के लिए मनोविज्ञान पर ध्यान देना इतना ज़रूरी क्यों है?

कमला मुकुन्दा: जी हाँ, आखिरकार यह हमारे काम का एक माध्यम है। यही वह सामग्री है जिसके साथ हम काम कर रहे होते हैं — बच्चों का दिमाग, हमारे अपने दिमाग! मेरा मतलब है कि अगर आप मिट्टी से बरतन बनाते हैं तो आपको पहले मिट्टी को अच्छी तरह समझना पड़ता। आप चाहे जो कहें, आपको उस माध्यम को समझना ही पड़ता है जिसमें आप

काम करने वाले हैं, और हम अध्यापकों के लिए तो यही सबसे अहम माध्यम है। मैंने देखा है कि एक औसत बी.एड. कोर्स में मनोविज्ञान के शीर्षक बहुत उबाऊ और सतही ढंग से पढ़ाए जाते हैं; अगर सतही न हों तो भी बहुत रोचक ढंग से तो कतई नहीं पढ़ाया जाता है। आम तौर पर ऐसा नहीं लगता कि स्कूल में जब आप पहले दिन पढ़ाने जाएँगे तो यह आपके लिए कोई महत्वपूर्ण सवाल होगा। मगर यह महत्वपूर्ण होना चाहिए। यही सवाल उन सारे प्रोफेसरों के लिए भी है जो अपने विभागों में बैठे हैं और इस सवाल पर काम कर रहे हैं। मगर वे किसके लिए काम कर रहे हैं? यह उम्मीद हम अध्यापकों से की जाती है कि हम कड़ियों को एक-दूसरे से जोड़कर देखें। यह ऐसे है, मानो मेडिकल शोधकर्ता शोध तो कर रहे हैं मगर इससे चिकित्सा विधियों और पद्धतियों पर कोई फर्क न पड़ रहा हो। अगर वाकई ऐसा है तो उस शोध का आप क्या करेंगे!

? **विवेक वेलांकी**: इस लिहाज़ से *व्हॉट डिड यू आस्क ऐट स्कूल टुडे?* मनोविज्ञान और शिक्षा पर कोई परम्परागत किताब नहीं है।

कमला मुकुन्दा: बिलकुल, यह परम्परागत किस्म की किताब नहीं है।

? **विवेक वेलांकी**: किताब की भूमिका में भी आपने इस तरह के शोधों की अच्छी खबर ली है। मसलन, आपने कहा है कि आपको इस किताब में 'भूल-भुलैया में दौड़ते जाने-पहचाने चूहों की कहानियाँ नहीं मिलेंगी'। क्या आप इस किताब के बारे में बताना चाहेंगी? वह क्या चीज़ है जो इसे दूसरी किताबों से अलग बनाती है?

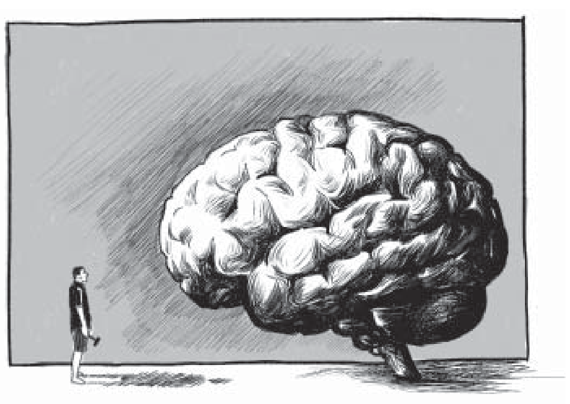
कमला मुकुन्दा: दरअसल, काफी साल पहले मुझे किसी ने एक सुझाव दिया था – "क्या आप बी.एड. कोर्स के लिए एक बढ़िया किताब लिख सकती हैं?" मगर जब मैंने लिखना शुरू किया तो पाया कि किताब के कुछ अनिवार्य अध्यायों में आपको उस सवाल का इतिहास, उसकी पद्धतियाँ भी लिखनी पड़ती हैं। मैंने महसूस किया कि इससे तो लोग ऊब जाएँगे। तब मैंने दूसरे सिरे से बात करना शुरू किया। पाठ्यपुस्तक के सामान्य कोण की बजाय इस सवाल से शुरुआत की कि अध्यापक और माता-पिता किन सवालों से जूझते हैं। इस अर्थ में यहाँ परम्परागत चीज़ों को जगह नहीं मिली है। किसी खास अध्ययन के सन्दर्भ को छोड़ दें तो पूरी किताब में शायद ही कहीं पद्धति का ज़िक्र आता है और चूहों और भूल-भुलैया का ज़िक्र तो कहीं नहीं आता।

? **विवेक वेलांकी**: और एक अच्छे अर्थ में आपने ऐसे कुछ लोगों को भी महत्व दिया है जिन्हें आम तौर पर मनोविज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में खास जगह नहीं मिल पाती है।

कमला मुकुन्दा: बिलकुल सही कहा आपने। मैं इस बात का दावा नहीं कर सकती कि यह वाकई सही बात है। मगर मैंने चीज़ों को एक खास ढंग से ही पेश किया है। यह एक तरह से व्यक्तिगत चयन का सवाल है। लगभग हर क्षेत्र में कुछ चिन्तक बहुत बड़े सितारे बन जाते हैं और वे अपने-अपने भव्य सिद्धान्त पेश करते हैं। वे सभी बहुत बुद्धिमान लोग होते हैं और लिहाज़ा, मैं उनके काम को या उनको नकारना नहीं चाहती। मगर मुझे जानने-बूझने के अन्य तरीके और स्रोत कहीं ज़्यादा आकर्षित करते हैं। जब आपके सामने ऐसे बहुत सारे लोग हों जो ख्याति न पा सके हों मगर सभी एक ही क्षेत्र में काम कर रहे हों और एक-दूसरे के काम की पुष्टि कर रहे हों तो मेरे खयाल में यह एक मूल्यवान योगदान होता है। भले ही पियाजे, मोन्टेसरी और वायगॉत्स्की बहुत बुद्धिमान लोग हैं, मगर उनके अलावा भी सैकड़ों ऐसे लोग हैं जो सूचना प्रसंस्करण (इंफर्मेशन प्रॉसेसिंग) या संज्ञानात्मक मनोविज्ञान (कॉग्निटिव सायकोलॉजी) और सामाजिक-सांस्कृतिक सिद्धान्तों पर आज भी काम कर रहे हैं। उनमें से ज़्यादातर बड़ी ख्याति प्राप्त नहीं कर पाते मगर मुझे उनका काम बहुत मूल्यवान लगता है।

? **विवेक वेलांकी**: माध्यम (सब्जेक्ट्स) के बारे में बात करते हुए आपने अधिगम और अध्यापन (सीखना और सिखाना) के मुद्दों को बाल विकास के दृष्टिकोण से सम्बोधित किया है। आप लिखती हैं कि अध्यापन एक खास तरह का कौशल है। इससे आपका क्या आशय है?

कमला मुकुन्दा: जी हाँ, इसकी जड़ें क्रमविकास मनोविज्ञान (इवॉल्यूशनरी साइकॉलॉजी) में मिलती हैं।



लीजिए, मैं इसे ज़रा सरल शब्दों में बता देती हूँ : किसी भी दूसरी पशु प्रजाति के शिशुओं के मुकाबले मनुष्य बहुत अपरिपक्व अवस्था में पैदा होते हैं। जन्म के समय हमारे पास बहुत कम सामर्थ्य होता है। मगर हम सीखने की अद्भुत

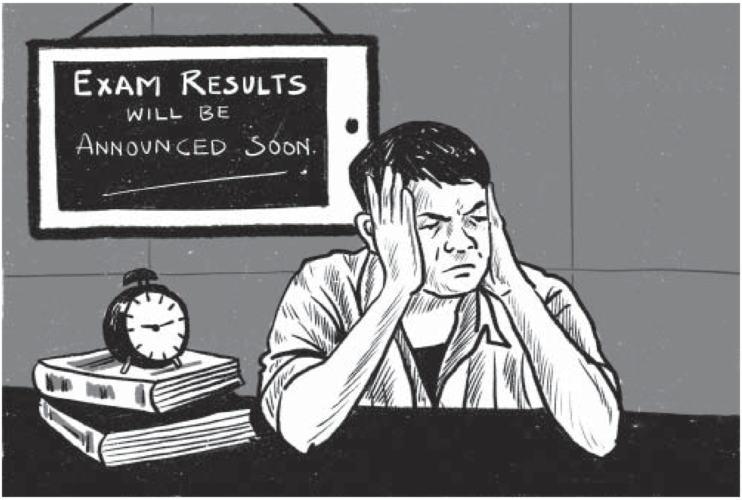
क्षमता के साथ पैदा होते हैं। इसका एक मतलब यह भी है कि हम तकरीबन किसी भी वातावरण में अपने आप को ढालना सीख सकते हैं। यह इन्सानों की एक बहुत कमाल की क्षमता है। सीखने की यह क्षमता असल में आजीवन सक्रिय रहती है और इसके साथ ही पढ़ाने या सिखाने की प्रवृत्ति भी लगातार साथ चलती जाती है। इसे जिस हद तक हम कर पाते हैं, उस हद तक कोई दूसरा जानवर नहीं करता। और ऊपर से हमारे पास लिखित और बोली जाने वाली भाषा भी है जो पढ़ाने और सीखने के हमारे दायरे व गहराई को और कई गुना बढ़ा देती है। इस लिहाज़ से यह बड़ी अनूठी स्थिति है। तो आप देख सकते हैं कि हर बच्चे को हर चीज़ शून्य से शुरू नहीं करनी है। उसे बहुत सारी चीज़ें सम्प्रेषित की जा सकती हैं और पढ़ाई जा सकती हैं; यानी आप काफी सारी दुनिया दूसरों के कन्धों पर बैठकर भी देख सकते हैं!

?

विवेक वेलांकी: इससे कुछ समस्याएँ भी पैदा हुई हैं। यानी स्कूल की पूरी व्यवस्था और विभिन्न अन्य ताज़ा परिवर्तनों से तथा अधिगम को मापने पर जो ज़ोर दिया जा रहा है, उसमें कई समस्याएँ भी पैदा हो रही हैं। आपने इस बारे में पूरा एक अध्याय लिखा है। इस प्रसंग में मौजूदा सोच के साथ आपको क्या समस्याएँ दिखाई देती हैं?

कमला मुकुन्दा: इस मामले में बहुत सारे मुद्दे जुड़े हुए हैं। लिहाज़ा, पहला सवाल यह है कि बात शुरू कहाँ से करें! आकलन की आवश्यकता पर बहुत सारे लोगों को आपत्ति है। एक मुख्य आपत्ति इस बारे में है कि हम आकलन को देखते किस तरह हैं। हम इसे आम तौर पर एक ऐसी चीज़ के रूप में देखते हैं जो सीखने की प्रक्रिया पूरी होने के बाद सामने आती है। हम इसे विपरीत दिशा में नहीं देख पाते। मैं जानती हूँ कि सतत आकलन (फॉर्मेटिव असेसमेंट) और सत्रान्त आकलन (समेटिव असेसमेंट) के फर्क के बारे में बहुत सारे लोगों ने सुना होगा। लेकिन हमारे यहाँ सभी यही मानते हैं कि आकलन तो सत्र के आखिर में ही किया जा सकता है। एक तरह से यह बिलकुल बेतुकी बात है क्योंकि कायदे से आकलन का मकसद यह होना चाहिए कि आप अपने अध्यापन और अधिगम की प्रक्रिया को बदलते, समायोजित करते चलें। सबसे पहला मुद्दा तो यही है।

दूसरा सवाल यह है कि आकलन या मूल्यांकन सत्र के आखिर में ही क्यों किया जाता है? क्योंकि यह लोगों को छाँटने का, यह तय करने का एक तरीका है कि अगले स्तर पर कौन जाएगा, अगले स्तर के संसाधन किसको मिलेंगे और किसको नहीं मिलेंगे। अगर यह भी संजीदगी और ईमानदारी से किया जाता तो आप मान सकते थे कि इसमें एक मकसद है मगर अफसोस



की बात यह है कि इस काम को भी बड़े कामचलाऊ ढंग से किया जा रहा है। अभी पिछले ही हफ्ते एक विश्वविद्यालय द्वारा जारी की गई कटऑफ लिस्ट को लेकर बड़ा हंगामा खड़ा हो गया था। यह एक निरर्थक-सी कवायद होती है। मैंने देखा कि एक लड़के को 88.5 प्रतिशत अंक मिले थे जबकि कटऑफ 90 प्रतिशत था। अब आप ही बताइए कि 90 प्रतिशत और 88.5 प्रतिशत वाले विद्यार्थियों के बीच कौन-सा भारी फर्क रहा होगा? मगर दाखिला एक को ही मिलना है। ऐसा लगता है कि हमने अपनी चेतना को अपराधबोध से मुक्त करने के लिए एक विस्तृत यांत्रिक व्यवस्था रच दी है। इसके दम पर हम आत्मविश्वास के साथ एक को हकदार व काबिल और एक को नाकाबिल घोषित कर देते हैं। यह आकलन की व्यवस्था की दूसरी बड़ी खोट है।

मूल्यांकन के प्रसंग में मुझे मोटे तौर पर ये दो मुद्दे दिखाई देते हैं मगर आगे जाएँगे तो और भी बहुत सारे मसले हैं जिन पर हमें ध्यान देना चाहिए। अगर आप सतत मूल्यांकन करते हैं यानी आप पढ़ाने और सीखने की प्रक्रिया के साथ लगातार मूल्यांकन करते जाते हैं तो उसके लिए भी आपको बहुत सोच-समझकर योजना बनानी पड़ती है। हमारे यहाँ लोगों को अच्छे इम्तहान या सवाल बनाने के लिए पढ़ाया या प्रशिक्षित भी नहीं किया जाता है। यह बात अध्यापकों के बारे में भी सच है। मेरे खयाल में हम उन्हें अच्छे सवाल पूछना सिखाते ही नहीं हैं जिससे वे यह जान सकें कि विद्यार्थी को कोई बात समझ में आ पायी है या नहीं।

? **विवेक वेलांकी**: आपने मूल्यांकन का एक वैकल्पिक तरीका सुझाया है - 'विश्वसनीय मूल्यांकन' (ऑथेन्टिक असेसमेंट)। आपका यह भी कहना है कि इस तरह का आकलन सम्भव है। इससे आपका क्या आशय है?

कमला मुकुन्दा: जी हाँ। यहाँ मुझे अपने उदाहरण को सन्दर्भ के थोड़ा और निकट रखना होगा, हालाँकि मैं नहीं जानती कि अगर मैं अपने स्कूल का उदाहरण लेती हूँ तो उससे दूसरे सन्दर्भों के लिए क्या सबक निकलेंगे। मगर, हम अपने स्कूल (सेंटर फॉर लर्निंग, बेंगलूरु) में जो करते हैं, वह कुछ इस प्रकार है : हम हर कक्षा में बहुत थोड़े बच्चे रखते हैं। पढ़ने के दौरान हम बच्चों को एक छोटे-से घेरे में बिठा लेते हैं ताकि मैं या कोई भी अध्यापक उन सभी की किताब-कॉपियों को देख सकें या अगर हम उन्हें अपनी कॉपी दिखाने को कहें तो वे आसानी-से बैठे-बैठे हमें दिखा सकें। अब हम एक-दूसरे से सवाल-जवाब करते हैं। इस तरह हम हर क्षण, हर बच्चे के सीखने के स्तर से जुड़े रहते हैं। यह आकलन का एक स्तर है। यह ऐसा मूल्यांकन है जो हर वक्त चलता रहता है। लेकिन यह सिर्फ मेरे दिमाग में है। यह अभिभावकों या दूसरे अध्यापकों को दिखाई नहीं पड़ेगा।

एक अध्यापक की दृष्टि से विश्वसनीय मूल्यांकन का दूसरा स्तर यह है कि मैं हर कुछ महीने में बैठकर हर विद्यार्थी के बारे में विस्तार से चिन्तन-मनन करूँ। शायद तीन महीने में या छह महीने में। और मैं उनके बारे में अपनी सोच, उनके अधिगम के बारे में अपनी राय इकट्ठा करूँ। मेरे खयाल में यह मूल्यांकन गुणात्मक और विवरणात्मक होना चाहिए। यह मूल्यांकन उपयोगी हो, इसके लिए ज़रूरी है कि इसमें उस व्यक्ति के साथ संवाद भी किया जाए जिसे मैं अपनी बात बताना चाहती हूँ। अगर मैं किसी विद्यार्थी को यह कहती हूँ कि "देखो, अभी तक तुमने जो कुछ किया है, उसके बारे में मेरी राय यह है" तो यह कहना-सुनना दोनों तरफ से होना चाहिए। अगर मैं किसी अन्य अध्यापक/अध्यापिका या माता-पिता को बता रही हूँ तो मुझे उन्हें बताना चाहिए कि मेरे क्या अनुभव हैं। इसके लिए आप पेरेंट मीटिंग्स या रिपोर्ट मीटिंग्स वगैरह अवसरों का प्रयोग कर सकते हैं।

मूल्यांकन को विश्वसनीय बनाने का एक और तरीका शोध पद्धति जैसा है जिसके लिए आप हर बच्चे का पोर्टफोलियो तैयार करते हैं। आप हर विद्यार्थी के कामों का संकलन पोर्टफोलियो में रखते हैं। यहाँ उसका सबसे अच्छा काम होना चाहिए और यह चयन रेंडम या बेतरतीब नहीं होना चाहिए। कायदे से पोर्टफोलियो में आपको उसका सबसे बेहतरीन काम रखना है। जो भी इसे पढ़े, उसे विद्यार्थी के अधिगम स्तर का पूरा बहुआयामी



अन्दाज़ा मिल जाना चाहिए। ये इसी तरह के विभिन्न विकल्पों में से कुछ उदाहरण हैं। मैंने केवल संक्षेप में अपनी बात बताई है।

? **विवेक वेलांकी**: आपने जो बताया है, वह रास्ता अधिगम के एक ज़्यादा मनोगत (सब्जेक्टिव) मूल्यांकन की ओर जाता है। यानी इसमें आप हर बच्चे का अलग ढंग से मूल्यांकन कर सकते हैं। लेकिन आजकल तो वस्तुनिष्ठता के लिए जैसा हंगामा दिखाई देता है, क्या उसमें आपके सुझाव एक रुकावट नहीं बन जाएँगे?

कमला मुकुन्दा: जी हाँ, कुछ लोग इसे रुकावट भी मान सकते हैं। अगर मैं इसके वैकल्पिक बन्दोबस्त पर सोचूँ जिसे ज़्यादा वस्तुनिष्ठ माना जाता है, यानी अंक आधारित मूल्यांकन व्यवस्था, तो उसमें तो मुझे कोई अर्थ ही दिखाई नहीं देता। व्यक्तिगत रूप से मेरा यही मानना है कि अगर मैं किसी के साथ चर्चा कर रही हूँ तो सब्जेक्टीविटी की समस्या तो होनी ही नहीं चाहिए क्योंकि मैं तो सीधे आपके साथ संवाद कर रही हूँ और आप मुझसे पूछ सकते हैं कि मेरा क्या आशय है। यहाँ तक कि आप यह भी कह सकते हैं कि "मगर मुझे तो ऐसा नहीं लगता, मेरे खयाल में स्थिति ऐसी नहीं, वैसी है।" हम बहस भी कर सकते हैं और मेरे हिसाब से तथाकथित 'वस्तुनिष्ठ' मूल्यांकन के मुकाबले यह ज़्यादा बेहतर तरीका है। वैसे भी जब आप टेस्ट का कोई पर्चा बनाते हैं तो उसमें जिन चीज़ों को आप शामिल करते हैं, उनके बारे में भी कोई व्यक्ति ही फैसले लेता है। तो इसमें वस्तुनिष्ठता कहाँ से आ जाती है?

? **विवेक वेलांकी**: मगर आज तो भारत में ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया में एक पूरा आन्दोलन छिड़ा हुआ दिखाई देता है। पीसा और टिम्स जैसी बड़े पैमाने की विशिष्ट परीक्षाएँ आयोजित की जा रही हैं। इनमें से ज़्यादातर एक ऐसी परिधि रचने की कोशिश कर रहे हैं जिसके तहत अमेरिका और भारत या किसी भी देश के बच्चे एक-जैसे सवालों के जवाब दे रहे होंगे। इस प्रवृत्ति के बारे में आपका क्या कहना है?

कमला मुकुन्दा: सबसे पहले तो मैं पूछना चाहती हूँ कि इसका मकसद और ज़रूरत क्या है? इसके पीछे आपका इरादा क्या है? हम इतने दूर-दूर के इलाकों को एक-जैसा दिखाना क्यों चाहते हैं? बल्कि मेरे हिसाब से तो पूरे भारत में भी एक-जैसी परीक्षाओं का क्या मतलब है? जितना मानकीकरण और नियमीकरण हम कम करेंगे, मेरी राय में उतना बेहतर होगा। फिर भी सवाल यही है कि ये सब आप करना क्यों चाहते हैं? क्या यह सारी जद्दोजहद बच्चों को मापने, उनकी तुलना करने और इस बात पर सन्तुष्ट या असन्तुष्ट महसूस करने भर की ही नहीं है कि हमने अपना काम कर दिया है और फलाँ बच्चा फलाँ बच्चे से बेहतर या बुरा है! मुझे समझ में नहीं आता कि इन सारी बातों का सीखने से क्या मतलब है। इस तरह की प्रवृत्ति के जवाब में मेरा सवाल यह है: आप क्यों यह सब करना चाहते हैं? मेरे खयाल में केवल सुरक्षित महसूस करने की इच्छा से ऐसा किया जा रहा है - “हाँ, हमने यह कर दिया” और जब हम उसे ठीक-से न कर पाएँ, जैसा भारत में दिखाई देता है तो परेशान हो जाएँ और फिर बहाने बनाने लगें।

? **विवेक वेलांकी**: आपकी किताब को छपे कई साल हो चुके हैं। इस किताब के लिए आपको अभी तक सबसे असामान्य प्रतिक्रिया क्या मिली है?

कमला मुकुन्दा: पता नहीं, इसे असामान्य प्रतिक्रिया कहा जा सकता है या नहीं, मगर यह सबसे हृदयस्पर्शी अनुभव तो ज़रूर था। जब मैं किताब लिख रही थी तो लगातार मुझे यह खयाल कचोट रहा था कि मैं अध्यापकों की बिरादरी से बात करना चाहती हूँ मगर क्या कभी यह किताब उन तक पहुँच पाएगी? क्या वे वाकई कभी इसे पढ़ेंगे? क्या उन्हें यह समझ में आएगी? लिहाज़ा, जब भी मैं यह सुनती हूँ कि किताब किसी व्यक्ति को सम्बोधित कर पायी है तो मुझे बहुत तसल्ली होती है। हाल ही में मैं धर्मशाला में थी और वहाँ तिब्बती स्कूलों में काम करने वाले निष्कासित तिब्बती सरकार के किसी व्यक्ति ने मुझे 100 किताबों का एक गट्ठर दिखाया और कहा, “मैं इन्हें अगले महीने लद्दाख ले जा रहा हूँ। वहाँ लद्दाख के दुर्गम इलाकों में भी बहुत सारे अध्यापक हैं जिन्हें मैं यह किताब

दिखाना चाहता हूँ।" और मैंने सोचा, "क्या बात है! यह किताब लद्दाख जाएगी! अपनी पूरी ज़िन्दगी में मैं तो शायद कभी वहाँ न जा पाऊँ पर कम-से-कम यह किताब तो वहाँ जा रही है।" तो, इसी तरह की चीज़ें मुझे खुशी देती हैं और यह बात भी अच्छी लगती है कि अब इसका हिन्दी, कन्नड़, तमिल और मलयालम में भी अनुवाद किया जा चुका है। यह जितने ज़्यादा अध्यापकों तक पहुँच पाएगी, मेरे खयाल में उतना बेहतर होगा।

? **विवेक वेलांकी**: क्या आप और किताबें लिखने के बारे में सोच रही हैं?

कमला मुकुन्दा: यह थोड़ा कठिन सवाल है। फिलहाल तो किताब लिखने की बजाय शिक्षक-शिक्षा के लिए मॉड्यूल लिखने अथवा पाठ्यचर्याएँ तैयार करने में मदद देने का ही फैसला लिया है। हो सकता है, आने वाले समय में मैं लिखूँ, बल्कि मैं अभी भी लिख रही हूँ मगर फिलहाल मेरा लेखन किसी किताब के मकसद से नहीं चल रहा है। ये सिर्फ अलग-अलग टुकड़े या अध्याय भर हैं। मालूम नहीं कि आने वाले वक्त में ये क्या शक्ल लेंगे। फिलहाल, मुझे ओपन एक्सेस या मुक्त पहुँच का विचार काफी आकर्षित कर रहा है और लिहाज़ा मैं इसमें ज़्यादा दिलचस्पी ले रही हूँ। मिसाल के तौर, इस इंटरव्यू जैसी चीज़ें।

कमला मुकुन्दा: *व्हॉट डिड यू आस्क ऐट स्कूल टुडे?* की लेखिका हैं। फिलहाल, सेंटर फॉर लर्निंग, बेंगलूरु में पढ़ा रही हैं।

विवेक वेलांकी: फिलहाल, मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी स्थित कॉलेज ऑफ एजुकेशन के करिक्युलम, इंस्ट्रक्शन एण्ड टीचर एजुकेशन विभाग से पीएच.डी. कर रहे हैं। जिस समय यह साक्षात्कार रिकॉर्ड किया गया था, उस समय वे रीजनल रिसोर्स सेंटर फॉर एलिमेंटरी एजुकेशन (आरआरसीईई), दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोजेक्ट ऑफिसर के पद पर काम कर रहे थे। अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक सुधार, आलोचनात्मक सिद्धान्त, जाति, नस्ल और जेंडर आदि सवाल उनके शोध का मुख्य विषय रहे हैं।
सम्पर्क: vivek.vellanki@gmail.com

अँग्रेज़ी से अनुवाद: योगेंद्र दत्त।

सभी चित्र: अक्षय सेठी: वे रोज़मर्रा के अनदेखे, मामूली व बार-बार दोहराते पहलुओं में खुद को अपनी ड्रॉइंग, कॉमिक्स और इंस्टॉलेशन के ज़रिए झोंका करते हैं। कॉलेज ऑफ आर्ट, नई दिल्ली से पेंटिंग में स्नातकोत्तर व दिल्ली में ही रहते और काम करते हैं।

यह साक्षात्कार क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केन्द्र (आरआरसीईई), दिल्ली यूनिवर्सिटी द्वारा डायलॉगिंग एजुकेशन श्रृंखला के तहत रिकॉर्ड किए गए साक्षात्कार का सम्पादित संस्करण है। इस संकलन के साक्षात्कारों को लिखित और ऑडियो माध्यमों में www.rrcee.net पर भी देखा जा सकता है। सम्पादक - विवेक वेलांकी व पूनम बत्रा।

पुस्तक *व्हॉट डिड यू आस्क ऐट स्कूल टुडे?* एकलव्य द्वारा हिन्दी में भी प्रकाशित की जा चुकी है।